भोजपुरी तथा बंगला लोकगीतों में सामाजिक चेतना

रंजना शर्मा, एसिस्टैंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, बेथुन कॉलेज, कोलकाता

सार :

लोकजीवन चाहे वह भोजपुरी समाज का हो या बंगला, भाषा, संस्कृति और संस्कार की दृष्टि से भले ही अपनी बाहरी बनावट और दिखावट में भिन्न हो, परन्तु जहाँ संवेदनाओं और अनुभूतियों तथा जीवन के उतार-चढ़ाव या जीवन के अपरिहार्य अवस्थाओं और आवश्यकताओं की बात होती है वहाँ दोनों भाषा-भाषी क्षेत्र एक दूसरे से मिलते नजर आते हैं। जीवन की परिभाषा 'नाना मुनि' नाना मत' के अनुरूप भले ही हो परन्तु इस यात्रा को पूरा करते हुए जीवन के तमाम झंझावातों से अछूता रहकर किया जाना लगभग असंभव है, या विरले ही इसे इस रूप में पूरा कर पाते हैं। 'लोक' का जीवन भी इससे भिन्न नहीं है। किसी भी समाज की धुरी मनुष्य द्वारा निर्धारित होती है। कोई भी समाज जिस प्रकार परम्पराओं और प्रथाओं द्वारा नियंत्रित होता है, उसी प्रकार चेतना और जागरूकता द्वारा अग्रसित होता है। फिर यह चेतना सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अथवा समसामयिक स्थितियाँ हो सकती हैं। भोजपुर और बंगाल भारतवर्ष के अन्य प्रांतों के समान ही दो भिन्न भाषा-भाषी समाज होने के साथ अपनी भाषिक अस्मिता, रीति-रिवाज, जीवन पद्धति, जीवन शैली एवं चिंतन के कारण केवल अलग नहीं है वरन ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से भी असमान हैं। इस दृष्टि से दो भिन्न भाषिक समुदाय वाले समाज के भीतर पल रही चेतनाओं और अनुभवों में पार्थक्य का आना स्वाभाविक है। खास रूप से ग्रामीण समाज की अपनी मौलिक चिंता धारा होती है जिसका संबंध उनके जीवन और जगत के मूलभूत समस्याओं से होता है। उसमें तुरंत-फुरंत बदलाव की स्थितियाँ सहजता से अपना स्थान नहीं बना पाती हैं। ग्रामीण जीवन में परिवर्तनों को सहजता से न स्वीकारा जाता है और न ही आसानी से परम्पराओं को छोड़ा ही जाता है। ऐसी स्थिति में भोजपुर और बंगाल के ग्रामीण जनमानस के जीवन में परिवर्तनों ने किस प्रकार अपना स्थान बनाया और इनका प्रतिफल उनके लोकगीतों में, खासकर सामाजिक जीवन और चेतना से जुड़े गीतों में, किन रूपों में हुआ यही देखना इस आलेख का मुख्य उद्देश्य हैं।

बीज शब्द : सामाजिक चेतना, जागरूकता, संघात, संरचना, दहेज प्रथा, ऐतिहासिक सामाजिक बदलाव, स्त्री पीड़ा, ग्राम्यता।

जीवन का एक और नाम परिवर्तनशीलता है। समाज सापेक्ष ग्रामीण-लोकमानस इस से परे नहीं है। लोकगीतों में लोक जीवन की अनुभूतियाँ कच्चा चिट्ठा या कच्चे माल (Raw materiel) की तरह होती है, जिसे किसी बाह्य शास्त्रगत उपकरणों द्वारा न सजाया जाता है और न ही इसकी देखरेख की जाती है। इसीलिए इन गीतों में सहज, सरल भाषिक युक्तियों द्वारा अपनी संवेदनाओं, चेतनाओं और अनुभूतियों को अभिव्यक्त मात्र कर दिया जाता है, जैसे इस भोजपुरी लोकगीत में एक असमर्थ गरीब पिता अपनी स्थिति जताता हुआ 'सुरुज' (सूर्य देवता) से कहता है कि वह अपनी बेटी के ब्याह के लिए दहेज नहीं दे सकता, इसलिए अगर बेटी दोगे तो धन भी देना ताकि उसका मैं ब्याह दे सकूँ। कितनी सहजता से पिता ने अपनी सामाजार्थिक लाचारी अभिव्यक्त किया है। पिता की विवशता के लिए समाज और सामाजिक सोच दायी है, तथापि बेबस पिता की यह सामाजिक स्थिति नहीं कि वह इसके विरोध में खड़ा हो सके, इसलिए वह 'सूर्य' से प्रार्थना करता है।

"गंगा पैठी बाबा सुरुज के बिनवइ
मोरे बूते धेरिया जिनि होइ
धेरिया जनम तब दीह विधाता
जब घर सम्पति होई।"[1]

दहेज प्रथा की समस्या केवल भोजपुरी प्रांत या भाषा-भाषियों की नहीं है, इसका दानवाकार रूप बंगला लोकगीतों में भी अपनी जड़ें जमाए हुए हैं। आधुनिकता के प्रभाव से आज बंगीय शहरी जीवन तथा ग्रामीण जीवन में भले ही यह उद्घोषणा सस्वर सुनाई दे 'कोरेछि पन, देबो न पन' (प्रण किया है, दहेज न देंगे) परन्तु इस आसुरी व्यवस्था से किसी भी समाज को पूरी तरह से मुक्ति नहीं मिली है। इस बंगला लोकगीत में लोककवि कहता है-

बिटी बिका होइलो बिषम दाए
बर जे साइकेल घोड़ी (घड़ी) चाय।[2]

(अर्थात बेटी का ब्याह बहुत मुश्किल हो गया है। दूल्हा साईकिल और घड़ी की माँग करता है)

एक अन्य बंगला लोकगीत में वर का, पिता कन्या को जब देखने आता है तो ग्रामीण परिवार द्वारा पाले गए मुर्गे का मांस खाने पर ही वह वापस जाता है। यह एक प्रकार वर पक्ष का कन्या पक्ष पर हावी होने का द्योतक है। हिंदी प्रदेशों में भी विवाह के अवसर पर और उसके उपरांत वर पक्ष वाले हमेशा श्रेष्ठता सिद्ध करने पर उतारू रहते हैं। यह सामंती मनोविकार है जो भारतीय समाज व्यवस्था में वर एवं वर पक्ष के श्रेष्ठ होने का सूचक है। जिसमें कन्या को और कन्या पक्ष वालों को कमतर माना जाता है। ग्रामीण लोक समाज भी इससे अछूता नहीं है।

'बिहा दिया बड़ो दाय होइलो
देशे पनप्रथा रोहे गेलो
'कृतिबाइसा' बिटिर जालाय भाबनाते जोइले गेलो।
बरेर बाप देइखते आइसे 'सांडाटा' खाइये गेलो।।[3]

-कृतिबास कर्मकार

रवीन्द्रनाथ अपने एक निबंध में पारिवारिक जीवन में कन्या और उसके विवाह को लेकर चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं- "कन्या हमारे घरों में एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। कन्यादाय जैसा और कोई दाय नहीं होता। 'कन्या पितृत्व खलू नाम कष्टम'। हम समाज द्वारा निर्धारित मंडली में ही, निर्दिष्ट उम्र की कन्या का विवाह करने के लिए बाध्य हैं। समाज द्वारा निर्धारित कृत्रिम नियम के कारण ही वरों की माँग (कीमत) बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में वर के रूप, गुण, आर्थिक सामर्थ्य जैसे प्रश्नों की महत्ता भी कम हो जाती है। कन्याओं को अपात्रों के हाथों सौंप दिया जाना, समाज में आए दिन घटित होते रहता है। इन बातों को लेकर दुनिश्चता किया जाना, अनुताप या अश्रुपात अथवा जमाता के परिवार संग विरोध की घटना आम है। पिता के परिवार और पति के परिवार के बीच निष्ठुर व्यवहार के कारण कन्या का दुखी होना या दुःखपूर्ण जीवन यापन करना आज घर-घर की बात हो गयी है।"[4]

18वीं शताब्दी के अंत के साथ बंग प्रदेश में समाजसुधार-मूलक कार्यों का अपना अलग महत्व रहा है, तथापि बंगीय समाज में कुलीनता और जाति-प्रथा के नाम पर बहु विवाह, बाल विवाह, विधवा प्रथा, सती प्रथा जैसी सामाजिक कुव्यवस्थायें मौजूद थी, जिन्हें चेतनशील बंगीय मनीषियों ने जड़ से उखाड़ फेंका। परन्तु दहेज प्रथा का प्रचलन आज भी समाज में किसी न किसी रूप में मौजूद है। गौरतलब बात यह है कि शिक्षा और जागरूकता ने भले ही लोगों का ध्यान इस ओर गहराई से आकर्षित किया है, परन्तु आज भी दहेज लेने-देने की प्रथा, अपने पुराने अवशेषों को नये उपकरणों से सजाकर ग्रामीण समाज, यहाँ तक की शहरी समाज में भी मौजूद है।

ग्रामीण जन-जीवन में अकसर यह देखा गया है कि अगर विवाह हो जाने के बाद भी वर पक्ष वालों में मनमुटाव की स्थिति बनी रहती है और ससुराल से बुलाए जाने पर वह नहीं जाता। बार-बार बुलाए जाने पर भी, वह वहां जाना अपनी हेठी समझता है। दरअसल कृषि आधारित समाज व्यवस्था में किसी भी अवसर पर कहीं चले जाना उतना सरल नहीं होता। इसलिए विवाहोपरांत ससुराल से बुलाए जाने पर भी वह वहाँ नहीं जा पाता है वहीं कन्या पक्ष वाले इस से दुखी हो जाते हैं। इस टूसू लोकगीत में इसी मनोभाव को अभिव्यक्त किया गया है-

बाडीर नामय नाईरकेल गाछटि घोटि भईरे जल दिबो।
एकटी नाईरकेल घईरले परे डाके चिठी पाठाबो।।
चिठी पाठाई घँड़ा पाठाई तोबू जामाई आसे ना।
जामाई आदोर बोड़ो आदोर तीन दिन बई आर थाके ना।।[5]

यह लोकगीत बाँकुड़ा पुरुलिया, वीरभूम अंचल में प्रचलित है। इसमें उस अंचल के भौगोलिक परिवेश के साथ उससे जुड़े सामाजिक जीवन उभर आया है। लेटेराइट मिट्टी जल को अधिक देर तक पकड़े नहीं रखती है। इस मिट्टी में खजूर, ताड़ प्रभृति पेड़ तो अनायास भौगोलिक अनुकूलता के कारण उग आते हैं, पर नारियल के पेड़ को जिलाए रखने के लिए घर की स्त्रियाँ तथा अन्य लोगों को खासी मशक्कत करनी पड़ती है। घर संलग्न बागान में लगे नारियल के पेड़ को स्त्रियाँ अपने हाथों से सिंचती है और जब उसमें पहला फल लगता है तो चिट्ठी भेजकर बेटी को घर बुलाना चाहती है, पर दामाद बेटी को लेकर नहीं आता। वह 'घँड़ा (घोड़ा) या विशेष व्यक्ति को भेजकर उन्हें बुलवाना चाहती है, पर वह तब भी नहीं आता और अगर वह आ भी जाता है तो तीन दिनों से ज्यादा नहीं ठहरता है। यह गीत उन दिनों की है जब डाक व्यवस्था पर लोक जीवन संपूर्णतः निर्भरशील था, घोड़ों पर आवाजाही की जाती थी। आज का ग्रामीण समाज संचार माध्यमों के विकास के कारण अब सिर्फ डाक व्यवस्था पर निर्भरशील नहीं रह गया है, फलतः लोकगीत में यह अभिव्यक्ति उन सामाजिक अवस्थाओं का सूचक है, जिससे होकर वह क्रमशः आगे बढ़ता है। ऐतिहासिक विकास क्रम में सामाजिक जीवन में होने वाले विवर्तन एवं परिवर्तन मानव सभ्यता के इतिहास के विकासक्रम को सूचित करने वाले ये, लोकगीत as tool प्रयोग किया जा सकते हैं। यहाँ तक की सभी भाषाओं के लोकसंस्कृति की व्याख्या विकासमूलक सिद्धांत के आधार पर किए जाते समय लोकगीत महत्त्वपूर्ण उपादान सिद्ध हो सकते हैं। जिन्हें खंगालने की बार बार आवश्यकता है। गीतों में ग्रामीण समाज केवल अपनी कंठ नहीं साधता, वरन इनके माध्यम से अपनी अनकही को कहता है, जिसमें जीवन जगत की पीड़ा से लेकर असीम आकांक्षाओं, अभिलाषाओं की पूर्ति का स्वप्न विचरण करता है। इनमें कहीं मार्मिक व्यथा की अभिव्यक्ति होती है और कहीं अपने समय और समाज के इतिहास का साक्षी बन जाने का विराट अवसर छिपा होता है। इस भोजपुरी लोकगीत का भाव-नियोजन इसका निदर्शन है-

सबरे बिदेसिया बिदेसे जाये, कौड़ी के लोभन हो राम
राजा हम धना बारी बयसवा, जियब हम कइसे हो राम
धना नैहर पठयू सनेसवा, बीरन के बोलाइ लिहू हो राम
धना गोदिया में लिहू भतीजवा, नगर घूमि आइउ हो राम
राजा अन्तहि जन्मी भौजिया, भतिज छोरि लेइहैं हो राम
राजा फटी जैहें बजर की छतिया करेज मोरा बिहरै हो राम।।"[6]

इस जँतसार लोकगीत में एक स्त्री की व्यथा चित्र उकेरा गया है। जिसका पति 'कौड़ी के लोभन' अर्थात कमाने 'बिदेस' जा रहा है। अपने

पीछे वह अपनी पत्नी को छोड़े जा रहा है। विरह में डूबती स्त्री अपने पति से निवेदन करती है कि वह उसके भाई को बुलवाकर उसे नैहर भेज दे ताकि वह वहाँ रहकर भाई के बेटे-बेटी को लेकर अपने आप को बहलाती रहे। यह स्त्री की पीड़ा है। उसका पति जब कमाने बाहर जायेगा तो वह छूछी घर भर में (ससुराल) भटकती रहेगी लेकिन अगर नैहर में रहेगी तो भाई के बच्चों के संग उसका मन लगा रहेगा यद्यपि उसका कलेजा यह सोचकर फटा जा रहा है कि अब उसे विरह के दिन गुजारने होंगे। यहाँ एक तरफ नैहर चले जाने का भाव है तो दूसरी तरफ अपने संतान के बजाए भाई के संतान के प्रति ममत्व के उमड़ आने का करुणामिश्रित बोध है, जो स्त्री के भीतर विवशता के कारण उत्पन्न हुआ है, क्योंकि उसके पति से उसका मिलना न हो पायेगा तथापि परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने का प्रयास यहाँ लोककवि ने किया है। 'नागमती वियोग खंड' में जायसी ने भी रानी नागमती के वियोग का ऐसा ही दारुण दृश्य चित्रित किया है।

जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब।। (जायसी ग्रंथावली, आ. रामचन्द्र शुक्ल)

जँतसार के गीतों को प्रख्यात फोक्लोरिस्ट डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र ने 'श्रम संबंधी लोकगीतों' की श्रेणी में रखकर इन गीतों को श्रमगीतों से जोड़कर देखते हैं। इन गीतों में करुण रस की मात्रा अधिक होती है। जँ

जँतसार वे गीत हैं जिन्हें स्त्रियाँ जाँता चलाते समय अपने श्रम को लाघव करने के लिए गाती हैं। मूलतः यह स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। 'जाँता या चक्की के गीतों में नारी हृदय की वेदना और टीस के चित्र मिलते हैं। करुण रस के लगभग सभी मार्मिक प्रसंगों की अवतारणा इन गीतों में पाई जाती हैं। पुत्रहीन तथा पतिविहीन बंध्या एवं विधवा स्त्रियों का दुःख इन गीतों में साकार हो उठता है।"[7]

भारत के अन्य प्रांतों की तरह भोजपुरी समाज में भी सास-बहू तथा ननद-भावज के संबंधों का ताना-बाना में मधुरता के लिए कम स्थान उपलब्ध है। जाहिर है कि बहुओं को सास-ननद से अकसर ताना सुनने को मिलता है और स्त्री बंध्या या विधवा हुई तो उस पर लांछनाओं और दुखों का पहाड़ टूट पड़ता है। इन गीतों में पारिवारिक-सामाजिक जीवन की छवि स्त्री कंठों द्वारा साकार हो उठता है। जँतसार के गीत अक्सर लम्बे होते हैं। एक भोजपुरी जँतसार गीत में ऐसा वर्णन है कि "किसी सास ने अपनी बहू को तौलकर सेर भर गेहूँ पीसने के लिए दिये, बहू चक्की पीसते-पीसते थक गई तो रास्ते के बटोही से बोली - हे पथिक भैया, जल्दी जाकर मेरे पति को संदेश पहुँचा दो कि तुम्हारी पत्नी ने पंचरंगी बेनी (पंखा) माँगी है। पथिक कहता है - मैं तो तुम्हारे पति को पहचानता भी नहीं। स्त्री कहती है- मेरे पति की बड़ी-बड़ी आँखें हैं, वह बगीचे में चिड़िया मारता होगा। चिड़िया ने उससे कहा कि तुम राजा के बेटे हो, तुम्हारी पत्नी ने पंचरंगी बेनी माँगी है। पंखा खरीदने में चार टके लगे। उसकी डंडी बनाने में घोड़ा बिक गया। पति कहता है- भैया बटोही, तुम तो मेरे साले हो, मेरी पत्नी को समझाकर कहना कि रात में पंखा डोलाना। ऐसा करने से सुख से नींद आ गई। सास-ननद की नजर पड़ी तो उन्हें संदेह हुआ कि सोने-चाँदी से बना यह पंखा बहू के पास किसने भेजा? बहू ने बताया कि आपके बेटे ने ही इसे भेजा है। पर सास कहती है- बहू वह तो राजा का नौकर है और जीरा का व्यापारी वह सोने चाँदी का बेनी कहाँ से पायेगा?

सेर भरि गेहुँआ रे सासु जोखि दीहली हो राम
अरे जँतवा गड़वली गजओबरि हो राम
जँतवा धइले साँवरि झुरावेली हो राम
बाट बटोहिया रे तुहूँ मोरे भइया हो राम
पिया से कहिअ सनेस धाइ के हो राम
तोरी धनी माँगे ले पंचरंग बेनिआ हो राम
तोहरा बलमु जी के चिन्हलों ना जनलों हो राम
कइसे कहिब समुझाइ के हो राम
हमरा बलमु जी के बड़ी बड़ी अंखियाँ हो राम
आरे लादे ले जीरा के लदनिया हो राम
चिरई मारत होइहें बगिया में हो राम
चिरई कहेली तुहूँ राजा के बेटवना हो राम
तोरी धनी माँगेली पंचरंग बेनिआ हो राम
बेनिया बेहसत टका चार लगले हो राम
डाटवा बनावत घोड़वा बिकाइल हो राम
बाट बटोहिया रे तुहूँ मोरे सखा हो राम
आरे धनी से कहिह समुझाइ के हो राम
आरे रतिया डोलइहें दिनवा चोरइहन हो राम
बेनिया डोलावत अइली सुख निनिआ हो राम
आरे परि गइली सासु ननदि के नजरिआ हो राम

बापे खाऊँ भइया खाऊँ तोहरी बहुअवा हो राम
आरे केई भेजावल सोना रूपा बेनिआ हो राम
हमरो बेटवना बहू राजा के नोकरिया हो राम
जीरा के लदनिया कहँवा पवले सोना रूपा बेनिया हो राम।"[8]

इस भोजपुरी लोकगीत में स्त्री की छवि से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस परिवार में वह है वहाँ उसे रोजमर्रा की सामान्य आवश्यकता से दूर रखा गया है जब उसका पति उसे 'बेनिया' (पंखा) भेजता है तो निर्देश देता है कि वह इसका उपयोग रात में ही करे, दिन में इसे दूसरों की (सास, ननद) नज़रों से 'चुराकर' (बचाकर) रखे, पर सास और ननद की नजर पड़ जाती है और उसे गलियाँ (बापे खाऊँ भइया खाऊँ) दी जाती हैं, संदेह किया जाता है कि उसे किसने पंखा दिया है। लोकगीतों में बहुधा ऐसे प्रसंग भरे होते हैं जिसका वास्तविक जीवन से कोई मेल नहीं होता। इसे अगर कल्पना का समावेश कहें तो अत्युक्ति न होगी, गौरतलब है कि इस अत्युक्ति में वास्तविकता को समय के साथ नजरअंदाज करके लोकमन गीत नियोजन करता है। जैसे इस गीत में प्रयुक्त चिरई मारत होइहें... बिकाइल हो राम' पंक्तियों को देखें तो एक अद्भुत प्रकार की असंलग्न अवस्था का नियोजन किया गया है। लोकमानस में ऐसी असंलग्न स्थितियों को पिरोया जाना इस बात का सूचक हो सकता है कि लोकगीतों में अकसर अपने प्रियजनों के आर्थिक अवस्था की कल्पना बढ़ा-चढ़ा की जाती है। डॉ दिनेश्वर प्रसाद के शब्दों में "उनका पारस्परिक विरोध मुख्यतः सामाजिक जीवन में आदर्श और यथार्थ में संगति के अभाव से उत्पन्न होता है, और कोई भी समाज ऐसा नहीं, जिसमें दोनों के बीच शत-प्रति-शत संगति विद्यमान हो।"[9]

लोकगीत समुदायपरक अभिव्यक्ति हैं इसमें व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का आत्म प्रकाशन हुआ है, पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि "अधिकांश लोकगीतकार या लोकगीत गायक सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग से आते हैं। इसीलिए समाज में व्याप्त अत्याचार, शोषण, अविचार, दुःख एवं दरिद्रता को उन्होंने करीब से देखा है। फलतः उनके द्वारा रचित लोकसंगीतों में जीवन का वास्तविक परिचय तो मिलता ही है साथ ही एक प्रकार का प्रतिवादी मनोभाव का भी प्रकाशन पाया जाता है।"[10]

परन्तु जहाँ पारिवारिक संबंधों एवं संपर्कों की बात है, वहाँ अन्य प्रांतों की तरह बंगाल में भी जमाता को विशेष आदर और सम्मान प्राप्त है और वहीं बधुओं को प्रताड़ित और दमन किया जाता रहा है। एक बंगला लोकगीत में वर पक्ष वाले विवाह के उपरांत अपनी नवविवाहित बहू को पितृगृह नहीं भेजना चाहते क्योंकि उनके विवाह के समय पारिवारिक अनबन हुई है। माँ दुर्गोत्सव में अपने घर आने के लिए बेटी के ससुराल निमंत्रण भेजती है, पर दुर्गा पूजा और लक्ष्मी पूजा बीत जाने पर भी बेटी, माँ के पास नहीं आ पाती है, इसलिए काली पूजा करती हुई माँ अपनी व्याकुलता और दुःख को छिपाती हुई मन ही मन रो रही है-

"दुग्गा पूजाय चिठी दिलाम आसे जानो दुईजने।
काली मायेर पूजा कोइरे काँदी गो मने मने।।"[11]

(अर्थात दुर्गा पूजा के लिए चिट्ठी भेजी कि दोनों जन (पति-पत्नी) आए पर काली माँ की पूजा करते हुए मैं मन ही मन रो रही हूँ)

दूसरी ओर नवविवाहित बहू अपने मायके न जा पाने के कारण दुखी हो उठती है और उसके मन में माँ के प्रति एक नासमझ अभिमान जन्म लेता है। अब पौष पर्व (मकर संक्रांति) भी आ गया पर वह मायके न जा सकी। अब उसे लगता है माँ ने जानबूझकर ही उसे पौष पर्व में भी नहीं बुलाया है।

"एतो बड़ो पौष परबे राईखलि माँ परेर घरे।
परेर माँ की वेदन जाने अन्तर झूरे मरे।"[12]

(अर्थात इतने बड़े पौष पर्व में भी तुमने मुझे दूसरे के घर छोड़ दिया, दूसरे की माँ (सासु माँ) क्या मेरी वेदना जान पायेगी, मेरा अंतर्मन वेदना से जल रहा है)

एक अन्य बंगला लोकगीत में बेटी अपने मायके न जा पाने के कारण मन की वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए सहज आंचलिक उपमान का इतना सुंदर प्रयोग किया है, जिसे सुनकर रसिक जन का हृदय सहज मुस्कान बिखेरे बिना नहीं रह सकता।

"आमार मन केमोन करे।
जानो पोस्तो कांदे गोल-आलूर तरे।।"[13]

(अर्थात मेरा मन कैसा कर रहा है जैसे पोस्ता रो रहा है गोल-गोल आलूओं के नीचे।)

या

"आमार मन केमोन करे।
जानो शोल माछ उफाल मारे।।"[14]

(अर्थात मेरा मन कैसा कर रहा है जैसे शोल मछली उफाल (उफान) मार रही हो।)

उस समय बंगाल के रूखे अंचलों में वर्षा ऋतू की छोड़कर अन्य मौसमों में हरी साग भाजियाँ नहीं उपजती थी। फलतः साधारण लोगों के लिए आलू-पोस्तो की सब्जी की महत्ता असीम है। वर्तमान समय में भी आलू-पोस्तो की सब्जी विस्तृर्ण अंचलों में सप्रेम खाया जाता है। गर्मी

के दिनों में शहरांचलों में भी आलू-पोस्तो, भिंडी पोस्तो, झींगा पोस्तो, प्याज पोस्तो जैसी नाना प्रकार की सब्जियाँ बनाई जाती है और लोग चाव से खाते हैं। उसी तरह अत्यधिक गर्मी से जब जलाशयों का जल सूखने लगता है तो शोल मछली एकदम तलछट में जा छिपती है और कभी-कभी जब अपने शरीर को झटकती है तो जलाशय में जलावर्त बन जाता है, जिसकी तुलना लोककवि मन के मरोड़ से करता हुआ कहता है 'जानो शोल माछ उफाल मारे'।

लोकगीतों की महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सजीवता और जीवंतता है जिसे अभिव्यक्त करने के लिए किसी वायवीय या असंभव कल्पना के स्थान पर कवि किसी सहज सामान्य उपमानों को चयनित करता हुआ अपने आंतरिक भावों को अभिव्यक्त करता है। ऐसे प्रयोगों से सभी भाषाओं के लोकगीतों का संसार भरा पड़ा है। भोजपुरी लोकगीतों में भी ऐसे प्रयोग भरे पड़े हैं।

"तन मोर अदहन, मन मोरा चाउर
नयन मूँग के दाल
अपने बलम के जेवना जेवइबे
बिनु अदहन बिनु आग।"[15]

यहाँ उमड़ते यौवन का, सहज प्राप्त वस्तुओं द्वारा ऐसा चित्र उकेरा गया है जिसे सुनकर हृदय रससिक्त हो उठता है। सभी भाषाओं के लोकगीतों में समाज चेतना का क्षेत्र अति विस्तृत है। इसके अंतर्गत मानव जीवन के सभी पक्षों को समेटा जा सकता है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवन जगत के समस्त जुड़ावों के अतिरिक्त जीवन में आनेवाले समस्त उतार-चढ़ाव को भी सामाजिक दायबद्धता से जोड़कर ही देखा जाता है। मनुष्य मात्र के जन्म लेने के उपरांत ही उसकी पारिवारिक चेतना का विस्तार कालान्तर में सामाजिक चेतना के रूप में परिवर्तित होती है। तदुपरान्त यह विस्तृत होकर देश-देशांतर की चेतना में समाहित हो सकती है। यह व्यक्ति के समसामयिक स्थितियों और परिवेश सापेक्ष होता है।

'लोक' चाहे किसी भी भाषा-भाषी प्रदेश का हो अथवा किसी भी संस्कृति का वाहक हो इनके बुनावट में एक खास तरह का सूत्र विराजमान रहता है जो परस्पर मेल खाता दिखाई देता है। आश्चर्यजनक रूप से इनकी शैली में भी एकरूपता दिखाई देती है। वास्तव में 'लोक' शब्द के भीतर जिस सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति को रेखांकित किया जाता रहा है कमोवेश उसकी सामाजिक भूमिका और स्थिति एक जैसी होती है। 'संस्कृति मतवादों की भूमिका में' नामक लेख में फोकलोरिस्ट डॉ. दिनेश्वर प्रसाद लिखते हैं- "संस्कृति का संबंध प्रजाति के रंग से न होकर सामाजिक-आर्थिक शक्तियों से है। जैविक संरचना और मानसिक क्षमता की दृष्टि से भी सभी प्रजातियाँ एक जैसी हैं और यदि किसी प्रजाति का सांस्कृतिक स्तर अधिक उन्नत है और किसी का कम, तो इसके मूलों की खोज प्रजाति विशेष की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में की जानी चाहिए।"[16]

वास्तव में सामाजिक व्यवस्थाओं पर ध्यान देने पर स्पष्ट पता चलता है कि जनसमुदायों, जातियों, जनजातियों की भूमिका का निर्वहन में समाजार्थिक स्थितियों, सांस्कृतिक परिवेश तथा राजनीतिक हस्तक्षेपों की बड़ी महत्ता रही है। जिस प्रकार सामाजिक स्थितियों की निर्णायक भूमिका के पीछे 'अर्थ' है उसी प्रकार संस्कृति को राजनीति से अलग करके आज के सन्दर्भ में नहीं देखा जा सकता। सांस्कृतिक उपकरणों को चकाचौंध से भर देने में इसकी भूमिका, आज किसी भी तरह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

सामाजिक सरोकारों में अर्थ की भूमिका भी अनिवार्य है। इसलिए ग्रामीण मनुष्य शहर की ओर जीविकोपार्जन के उद्देश्य से प्रत्यागमन करता है। ऐसी अवस्था में पति का स्मरण करती हुई एक विरहिणी नारी की करुणा भोजपुरी लोकगीत में इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है -

"आम महुअवा के घनी रे बगिया
ताहि बीचे राह लागि गइली हो राम
ताहि तर ठाढ़ भइली एक रे सोहागिनी
नयना से निरवा ढारे हो राम।।"[17]

इसी प्रकार एक विरह विदग्ध बंग ललना का प्रेम अपने प्रिय द्वारा किए गए वादे के मुताबिक पूरा न होने पर अभिमानपूर्ण उलाहना बनकर इस लोकगीत में अभिव्यक्त होता है-

"भालोबेसे बोइले छिलो आइसबो मासेर तिन दिने
दिन दिन मास फूराइलो, आइलो न बछोर दिने।।"[18]

(अर्थात तुमने प्यार करके कहा था महीने में तीसरे दिन आऊँगा पर दिन गुजर कर महीना और महीना गुजरकर साल बन गया पर तुम नहीं आए।)

प्रिय के न लौटने का कारण नौकरी की मजबूरी हो सकती है अथवा किसी अन्य स्त्री से प्रेम भी हो सकता है। परनारी के संसर्ग में वह अपनी पत्नी को भूल सकता है, ऐसी घटनाएँ सामाजिक जीवन में आये दिन घटित होती रहती हैं। एक भोजपुरी लोकगीत में अपने पति द्वारा एक अन्य स्त्री को घर लाये जाने का भाव इस रूप में अभिव्यक्त हुआ है। "कोई स्त्री अपनी सास से पूछकर पानी भरने जाती है। झरोखे पर चढ़कर वह देखती है कि उसका पति एक दूसरी स्त्री को लेकर आया है-

मचिया बइठल तुहू सास हो बढ़इतिनि
कहि तू न आहो ए सासुजी पनिआ के जइती नू रे
कइसे तू आहो ए बबुआ पनिया के जइबू
ओही से मगरिया ससुर भसुखा बाड़े नू रे
सासु के कहलकी बहुआ मनबो न कइली
चलि गइली पानी भरे कुइयाँ नू रे।।"[19]

"ससुराल में बहू सिर्फ सास-ननद के अत्याचार ही नहीं सहती साथ ही पति द्वारा लाए गए सौत को सहन करती है, क्योंकि लोकायत समाज राष्ट्रीय आइन-कानून की बातें अच्छी तरह से न ही जानता है और न ही सहजता से उसका आश्रय लेता है, वे एकमात्र समाज के दास हैं और इस समाज में पुरुषों द्वारा बहु-विवाह और बहु-पत्नी स्वीकृत है। इसका प्रमाण यह बंगीय लोकगीत भी है-

पुरुलाइते देइखे ऐइलम टाकाय जड़ा जामबाटी
कलि युगेर ऐमनी रीति
एक जमाई के दूई बिटि
सितेर सिन्दूर भाग कोइरे लिबो
आमरा दुई बहिन सोतीन हबो
सितेर सिन्दूर भाग कोइरे लिबो।।"[20]

(अथार्त पुरुलिया में देख आई रुपयों से जड़ा जामबाटी, कलयुग की यही रीति है, एक जमाता को दो बेटियाँ दान किया, माँग का सिन्दूर बाँट लूँगी। हम दो बहनें अब सौतिन बनेंगे। माँग का सिन्दूर बाँट लूँगी।)

यह एक स्त्री का दर्द और ईष्या है जो सिर्फ स्त्रियाँ ही समझ सकती हैं। सपत्नी संग सहवास हमेशा सुखकर नहीं होता है। ऐसी स्थिति में नवबधू अपने 'बहु पत्नीक' पति से दुःख एवं वेदना समेत कह उठती है-

"गड़ कोरी धन स्वामीर घर करा।
जेमोन खला पिठाय जल भरा लो।।
जल भरा।
तोर सने मिछाई भाब करा।
उ तोर छानापोनाय घर भरा लो।
घर भरा।
तोर सने मिछाई भाब करा।"[21]

(अर्थात जिसकी पहले से ही पत्नी हो उसके साथ संसार बसाना बहुत मुश्किल है ठीक वैसे ही जैसे 'खला पिठा' में पानी भरना, तुम्हारे संग व्यर्थ ही हमने प्रेम किया। तुम्हारा घर पहले से ही 'छानापनाय' (बाल बच्चों) से भरा हुआ है। व्यर्थ ही हमने तुमसे प्रेम किया। एक भोजपुरी लोकगीत में सौत की जानकारी पत्नी को मिलती है। साथ ही यह भी जानकारी मिलती है कि पति ने उसे कंगना गढ़वाकर दिया है। स्त्री अपने पति से अरज करती है कि वह उसे भी ठीक वैसा ही कंगना गढ़वा दे जैसा कि उसने उसके सौत को दिया है।

"पिया सौतिन के कंगनवा जिया अगिया लगावे
कंगना गढ़ल पिया बंगला गढ़नवा
हमरो गढ़ा द पिया अइसने कंगनवा
कंगना बिना रे मोरा भवनो न भावे।"[22]

इस लोकगीत में स्त्री के हृदय में कंगना के प्रति जितना प्रेम उमड़ता दिख रहा है उतना प्रेम उसे अपने भवन से भी नहीं है। वास्तव में यह स्त्रीजनित हृदय का उद्‌गार है जहाँ आभूषण प्रेम तो है ही, पर उससे अधिक ईष्या एवं क्षोभ इस बात का है, कि उसके पति ने उसके सौत को कंगना गठवाकर दिया है।

बंगाल के सीमांतवर्ती अंचलों में ग्रामीण जनमानस का जीवन यापन अत्यंत कठिन है। इन अंचलों में अर्थाभाव के कारण पिता अपनी बेटी का ब्याह समय पर नहीं कर पाया है। फलतः कन्या की उम्र हो जाती है पर धन के अभाव में विवाह अब तक नहीं हो पाता है। उस पर भाई की पत्नी द्वारा गाली-गलौज और अपमान करना, उसके लिए असह्य हो उठता है। इस लोकगीत में सामाजिक संरचनागत विसंगति अभिव्यक्त हुई। एक स्त्री अन्य स्त्री के प्रति विद्वेष की भावना से भरी दिखाई देती है।

"भाई भालो त भाईजे गाल दिछे
जेमन फईला काठ जाल दिछे
लो जाल दिछे
भाई भालो त भाईजे गाल दिछे।"[23]

(अर्थात भाई तो अच्छा है पर भाभी गाली देती है, ठीक वैसे जैसे चीरा हुआ काठ को जलाया जाता हो, भाई तो अच्छा है पर भाभी गाली देती है)

"इसीलिए जब किसी तरह उसका विवाह तय हो जाता है तो उसे लगातार अपने पति के घर जाने की बेसब्री होती है और वह अपनी माँ से कहती है -

मासि दिलो माथा बाँइदे
होलूद तेले टगमग,
विदाय दे माँ संगो छाइडे जाच्छे।
तोर जामाई डाँटाई आछे
लतापातार तले
विदाय दे माँ सट् कइरे
संगो छाइड़े जाच्छे।
आमि रइबो ना आर कोनो मते
संगो छाइड़े जाच्छे।"[24]

(अर्थात मौसी ने जुड़ा बाँध दिया है, हल्दी तेल भी लग चुका है। तुम मुझे विदा दो माँ हमारा साथ छूटा जाता है। तुम्हारा दामाद लताओं के छाँव में खड़ा है। माँ तुम मुझे जल्दी विदा करो संग छूटा जाता है। अब मैं यहाँ किसी भी तरह नहीं ठहर सकती, संग छूटा जाता है।)

एक भोजपुरी चैती गीत में यह भाव इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है -

पिया से मिलन हम जाएब हो रामा
अतलस लहँगा कुसुम रंग सारी
पहिर पहिर गुन गाएब हो रामा

इस गीत को निर्गुण चैती के अंतर्गत रखा गया है तथा इसके भाव को भक्ति भावना से जोड़कर देखा जाता है तथापि इसमें अपने पति (परमात्मा) से मिलने की आकुलता का बेजोड़ वर्णन हुआ है।

सामाजिक जीवन में सास-ननद-बहू का त्रिकोणात्मक संबंधों का ताना-बाना किसी से छुपा नहीं है। अकसर इन रिश्तों में एक ख़ास तरह की कटुता और तिक्तता पाई जाती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस तरह से सभी रिश्ते मधुरताहीन होते हैं। अपवाद सर्वत्र है और बहुओं को बेटी की तरह मानना भी इन्हीं रिश्तों के बीच फलते-फूलते देखा गया है। तथापि लोकगीतों में मधुर संबंधों के स्थान पर सास-ननद द्वारा प्रताड़ित किए जाने की छवि ही अधिक मुखरित हुई है।

एक भोजपुरी लोकगीत में स्त्री अपनी गृहस्थी का कष्ट अपने पति को बताते हुए कहती है -

"जहिया से अइली पिया तोहरी महलिया में
रात दिन कइली टहलिया हो पियवा
घर के करत काम, सूखल देही के चाम
सुखवा सपनवा होइ गइल हो पियवा।"[25]

इसी प्रकार के भाव को अभिव्यक्त करती हुई एक कौरवी स्त्री अपने सासु पर यह आरोप लगाती है कि उसकी निर्दयी सास उसे आधी रात में जगाकर चक्की पीसने के लिए मजबूर करती है, जबकि रात के समय उसे नींद आती है, वह सो नहीं पाती है।

"चक्की पै धरा पीसला रे, पत्थर फिरता णी
मेरी सास बड़ी जल्लाद री, मैंने ठावे आधी रात
कोरा सा कागद लाओ, लिख भेज्जू पति के पास
सबेरा घर को अइयो री, म्हारो रात्तों न लगती आँख
मेरी बैहण भानेल्ली पूछ रही, केसे थारे भरतार
टसरा की धोती कर रह्यो री
जिणके गल्ले में हरा रुमाल
गोरी सच्ची बात बता दे री, तुम पै क्या आई जवाल
थारी अम्मा बड़ी छिनाल, पिसावै आद्धी रात।"[26]

एक बंगला 'टूसू गीत' में नवविवाहित वधू अपना दुःख मिश्रित क्रोध जाहिर करती हुई गाती है -

ऐई बोछर पोष सबाई परे लील शाड़ी
आमार शाऊड़ी दुनियार-पापी नाई दिलो गो लील शाड़ी

(अर्थात इस पौष पर्व में सभी नीले रंग की साड़ी पहनी है पर मेरी सास बड़ी पापिन है उसने मुझे नीली साड़ी नहीं दिया)

इसी प्रकार एक दूसरे गीत में-

ऐई चाले पूई, ओई चाले पूई, पूईयेर खाबो मिचूड़ी।
आर जाबो ना ससुर बाड़ी, धोइरे मारे सासुड़ी।।

(अर्थात इस चाल्हे पर, उस चाल्हे पर 'पूई' (पोई साग) पोई का खाऊँगी मिचूड़ी (पोई दाना) अब ससुराल नहीं जाऊँगी। सास मेरी पकड़कर मारती है)

लोकगीतों की महत्वपूर्ण विशेषता उसके सतत प्रवहमयता में है, जो काल की गति के समान निरंतर प्रवाहित होता हुआ, अपने देश, काल एवं वातावरण से प्रभाव ग्रहण करता और रूपांतरित होता रहता है। यह एक स्वतः स्फूर्त चेतना है, जिसे लोकगीतों में अनायास पिरो लिया जाता है। बंगला लोकगीतों में यह चेतना भोजपुरी लोकगीतों की तुलना में अधिक मुखरता से सामने आयी है। सर्वविदित है इसके पीछे बंगाल की सामाजिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की बहुत बड़ी भूमिका रही है। त्वरित गति से चेतना का लोकगीतों में स्फुरण के पीछे बंगाल में तेजी से बदलते सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्य रहे हैं, जिसने केवल शहरांचलों में रहने वाले शिक्षित भद्र जनों को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि शहरों से दूर बसे गाँवों में भी अपना स्पष्ट प्रभाव छोड़ा। परिणामस्वरूप बंगला लोकगीतों में व्यापक सामाजिक चेतना का जुड़ाव सीमित परिदृश्य से बढ़कर जातीय चेतना से हो सका।

कि-ई-कलि हे दशा दैन्यो
आज देशेर लोके पाय न अन्नो।।
कि-ई-कलि हे...
आर जे देशेते सूषा प्रहर वर्ष छिलो सूना शिव हो-
आज सई देशेते लोकगूलाके तुई पिनहा दिलि तान्ना हे-
हाय रे तोर कुरुक्षेत्रे, राखलि ना तार चिन्होमात्रो
पूरातन कीर्ति कोरली धोकड़ा, कहिते पारन उठछे डूकराय
ऐई आदिना-पांडूया-गौड़-रामकेलि
ऐसब लगर छिलो कि समृद्धोशाली शिव हे-
आज से सब लगर कोरली कि तुई बाघ भालूकेर बास अरण्यो।।
कि-ई-कलि हे..."[27]

इस लोकगीत में प्रयुक्त 'कलि' शब्द द्विअर्थक है। पहला कलिकाल के रूप में दूसरा 'कोरली' (क्या किया) क्रिया पद के संक्षिप्त रूप में।

(अर्थात् इस कलिकाल में जीवन दशा दैन्य हुआ/किया है। आज देश के लोग खाने के लिए अन्न नहीं पा रहे हैं और जिस देश में 'सूषा' अर्थात अनाज साल भर मिला करता था, सुनो हे शिव! आज उसी देश में लोगों को तुमने अन्न-वस्त्रहीन कर दिया। हाय रे! तुम्हारे इस कुरुक्षेत्र में तुमने अतीत का कोई चिन्ह मात्र भी नहीं छोड़ा, पुरातन समस्त कीर्तियों को मिटा दिया, बोल नहीं पा रहा हूँ मन 'डूकराता' (रोता) है। यह आदिना, पांडूया, गौंड़, रामकेली एक समय कितना समृद्धशाली नगर था, हे शिव, आज तुमने इन्हीं नगरों को बाघ, भालूओं के रहने वाले अरण्य में बदल दिया है।)

"बंगाल के इतिहास में गौड़ अधिपति शशांक की महत्ता उल्लेखनीय है। वे बंगाल के प्रथम राजा थे जिन्होंने बंगाल के भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके अपने राज्य का विस्तार किया था। अपने शासन काल में वे गौड़, उत्कल, कन्नौज तथा मगध के अधिपति थे। इसके अलावा पश्चिम दिशा में मगध को अतिक्रमण करके उन्होंने वाराणसी तक अपना साम्राज्य विस्तार किया था।"[28]

स्वाभाविक रूप से बंगीय ग्रामीण समाज में अपने अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति मोहमय भाव है तथा तत्कालीन बदलते परिवेश के कारण इतिहास को मलिन होते देखकर लोककवि के स्वर में स्वतः वह भाव फूट पड़ता है। वह अपने सामने तेजी से बदलते परिदृश्य के बीच दिनों दिन गहराती समस्याओं को देखता है। ग्रामीण अपढ़ अल्पशिक्षित कवि की दृष्टि से बदलते परिदृश्य ओझल नहीं होते हैं। वह अपने जीवन के अनुभवों से तेजी से बदलते सामाजिक जीवन के स्वरूपों को पहचाने की कोशिश करता है। आधुनिक जीवन में राजनीति के सर्वग्रासी प्रभाव देखकर लोककवि मनोवेदना प्रकट करता हुआ गाता है-

"देशटा डूइबे गेलो रसातले।
आमि दोष दिवो भाई कारे बलो?
बुद्धिमाने कोरे चूरि बोकाय फेले अश्रुजल
दागाबाजी, जुआ चूरि घूसखोरी चले केवल।
राजनीतिर नाई नीतिर बालाई, चले केवल रंग बदल।"[29]

(अर्थात देश रसातल में डूब गया। मैं किसे दोष दूँ भाई? बुद्धिमान चोरी करता है और बेवकूफ अश्रुजल बहाता है। दगाबाजी, जुआ, चोरी, घूसखोरी का आज चलन है केवल। राजनीति में किसी नीति को मानने के बजाए केवल रंग बदल की राजनीति की जाती है)

पश्चिम बंगाल में लम्बे समय तक वामपंथियों की सरकार कायम रही। लोककवियों ने सरकार के कार्यकाल के दौरान होने वाले सामाजिक परिवर्तनों को भी लोकगीतों के स्वरूप में बाँधा है। समय के साथ साथ होने वाले परिवर्तनों को लोकगीतों में पिरोना तत्कालीन सामाजिक चेतना एवं चिंतन का ही परिचायक है।

साजोरे भारत संतान
स्वदेशी साजोन
कापोडेते लिइखा दिबो
बन्दे मातरम।
अथवा
साजाइबो, श्याम सजाइबो
साजाइबो बांगाली मेये
कापोड़ दिए साजाइबो
गाँधी राजार नाम लिखिबो।"[30]

(अर्थात सजो भारत संतान स्वदेशी साज में कपड़े पर लिख दूँगा वन्दे मातरम्)
सजाऊँगा श्याम सजाऊँगा, सजाऊँगा बंगाली लड़की को जब, कपड़े से सजाऊँगा, गाँधी राजा का नाम लिखूँगा)
एक अन्य बंगला लोकगीत में तत्कालीन समाज में बढ़ने मिलावट की समस्या का उल्लेख करते हुए लोककवि कहता है -

"खाबारे भेजाल ओषुधे भेजाल।
मानुष बाँचार हबो की हाल
दूधे भेजाल, तेले भेजाल, जले होइलो भेजाल
जिनिसपत्रेर मूल्यो बेड़े होइलो आकाश पाताल
ऐ भाबे चोलिले देश जाबे चोलि परकाल।
दुर्भिखो ओ महामारी रोइये जाबे चिरोकाल।।"[31]

(अर्थात खाने में मिलावट, दवाई में मिलावट, मनुष्य के जिंदा रहने का न जाने क्या हाल होगा, दूध में मिलावट, तेल में मिलावट, पानी में मिलावट, सामान का मूल्य बढ़कर हुआ आकाश-पाताल, अगर ऐसा ही चलता रहा तो देश परकाल को पा लेगा, पर दुर्भिक्ष ओ महामारी रह जायेगा चिर काल।)

भोजपुर प्रांत में भी समसामयिक समस्याओं ने लोककवियों का गहरा ध्यान आकर्षित किया है। भोजपुरी लोकगीतों में देश-दुनिया की समस्याओं से लेकर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा पारिवारिक समस्या उभर कर आई है। कलियुग में मँहगाई महामारी की तरह फैली है। देश का, न कोई प्रांत और न ही व्यक्ति इसके चपेट से बचा है। सरकार की नीतियों के बावजूद महँगाई अपना सर्वग्रासी मुख खोले सबकुछ निगल लेने पर तुली है।

"मोय मत पूछै निरप कठिन कलियुग की छाया
कलियुग आमन हार चलाबै अपनी माया
होंय राजा बेईमान जैसी परजा होयगी
सब घटिगे धरम ईमान
ब्राह्मणी ब्रह्मादिक त्यागें दासिन के पन पारिंगे।
अथवा
चलऽ ए सजनी, हमनियो पढ़ेला
खेतवा में दिन भर खुरपिया चलाएम
आके सिलेटवा पर पिलसिन घुमाएम
करिया अच्छर जब भैंसी न लगते
हमनी के कोई तब ठगवा न ठगते
सीख लेम अपन अपन दसखत करेला
अपने से चिट्ठी लिखे के, पढ़े के
बैंक पोसटाफिस में फारम भरे के
बीडियो कलट्टर से सलटम झमेला।

मनुष्य ने एक ओर जैसे बाह्य वस्तुगत उपादानों के द्वारा स्वयं को सज्जित करने का प्रयास किया है उसी तरह भाषा अविष्कृत कर साहित्य एवं संगीत जैसी विधाओं को समृद्ध करके मनुष्येत प्राणियों से अपनी भिन्नता स्थापित किया है। यह भिन्नता या पार्थक्य उसकी अपनी लड़ाई

होकर भी, सामूहिक लड़ाई है, क्योंकि मनुष्य मात्र समाज की इकाई है और इकाइयाँ मिलकर ही बृहत्तर और समुन्नत समाज निर्मित कर सकती हैं। समाज में जिस प्रकार अभिजन कलाओं और विधाओं की योजना की जाती है, ठीक उसी प्रकार दरिद्र, खेत मजूर से लेकर प्रांतर आदिवासियों की भी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता व अस्तित्व है। मनुष्य मात्र समाज में आबद्ध होते ही वह सामाजिक संस्कृति का हिस्सा बन जाता है और परम्परागत थाती के रूप में वह सब अर्जित करता है, जो उस समाज के पूर्वजों ने किया था। इसीलिए सामाजिक संस्कृति एक सिरे से अगर क्षरणशील है तो दूसरे सिरे से समुन्नत। यह उस समाज में रहने वालों पर निर्भर करता है कि वे किस सिरे पर है और उनकी दृष्टि किस ओर है। एक ही समय के समाज में रहकर दो विपरीत दृष्टि वाले लोग परस्पर एक दूसरे की सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टिकोण को कमतर आँक सकते हैं। "George M. Foster ने अपने प्रबंध What is folk-culture में लिखा है- "...they are neither primitive in the usual sense of the word nor are they 'civilized' in the sense of being integrated into modern industrial culture." कहा जा सकता है कि वे लोक प्रचलित अर्थ में 'आदिम' और 'सभ्य' समाज के बीच अवस्थित वह समाज है, जिसमें न आदिम सभ्यता जैसी बर्बरता है और न आधुनिक औद्योगिक समाज जैसी जटिलतायें और दिखावापन।"[32]

लोकगीत प्रचलित अर्थ में वे गीत हैं जिन्हें लोकजीवन अपने भावों को व्यक्त करने के लिए गाती है। इसमें पोथीगत अथवा काव्यशास्त्रनुसार नियमों का न पालन है न निद्येष वरन इसमें व्यापक समाज की सुख-दुखात्मक भावनाओं का आग्रह ही महत्वपूर्ण है। व्यष्टि से समष्टि की ओर जाते हुए व्यापक जनसमुदाय की चेतन या अचेतन मन की अवस्थायें बलवती होकर ग्राम गीतों में प्रकाशित होती है। लोकगीतों में गुण, दोष, लक्षण प्रयोजन, ग्राम्यता, अग्रम्यता का परिपालन नहीं होता है, अगर यहाँ कुछ प्रधान है तो वह भावनायें, अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ जो तात्कालिक भी है और पुरातन भी है। इस बात को एक प्रसंग के माध्यम से समझा जाना उचित होगा। "ग्राम्यता कविता का एक दोष है। यह कथन की एक शैली है जिसका सम्बन्ध जन-साधारण के बोलचाल के ढंग से है। काव्य में ग्राम्यता के आने से अर्थ सौन्दर्य और रस-बोध दोनों बाधित होते हैं। ग्राम्यता को दोष मानने के पीछे एक विशेष प्रकार की सामाजिक चेतना भी है। इसमें साधारण जनता, विशेष रूप से गाँवों में रहने वाली साधारण जनता को असंस्कृत मानने का भाव है।"[33]

वास्तव में साहित्य के स्वरूप निर्माण में सामाजिक यथार्थ और सामाजिक चेतना का गहरा संबंध है। फिर वह साहित्य चाहे शिष्ट साहित्य हो या लोकसाहित्य। "किसी देश का जनसाधारण किन परिस्थितियों में कैसा अनुभव करता है, परिवेश की किन वस्तुओं के साथ उसका किस प्रकार का आसंग है, उसके जीवन के मूल्य क्या हैं, इन बातों और इनकी तरह की अन्य बातों की सही-सही जानकारी उसकी लोक कविता द्वारा संभव है।"[34]

इसलिए लोकगीतों को उस समाज या देश की समष्टिगत अनुभूतियों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों एवं आयामों का सबसे अधिक प्रामाणिक प्रतिनिधि माना जा सकता है। अपने समय और समाज तथा जीवनानुभवों को सस्वर मुखरित करने का श्रेय एकमात्र लोकगीतों को ही है, क्योंकि इसके लिए इन्हें किसी आचार पद्धति की आवश्यकता नहीं होती है और न ही शिष्ट साहित्य के समान गंभीर गरिमामय वाक् विदग्धता की, वरन सरल सहज भावोच्छवासों को देशज भाषा एवं देशज शैली का जामा पहनाकर लोकमानस इन्हें सरलता से अभिव्यक्ति करता है। इसीलिए लोकगीत किसी भी देश एवं समाज की वह अंतरवर्ती धारा है जिसे किसी कृत्रिम आभरण और आवरण की आवश्यकता कभी नहीं पड़ती है।

सन्दर्भ सूची :

1. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 398
2. सिंह, शांति, टूसू, लोकसाहित्य ओ आदिवासी संस्कृति केन्द्र, कोलकाता, 1405 बंगाब्द. पृ. 128
3. वही, पृ. 128
4. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, उधृत, सिंह, टूसू, शांति, लोकसंस्कृति ओ आदिवासी केन्द्र, कोलकाता, 1405, बंगाब्द, पृ. 129
5. सिंह, शांति, टूसू, लोकसंस्कृतिओ आदिवासी केन्द्र, कोलकाता 1405, बंगाब्द पृ. 129
6. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 469
7. वही, पृ. 468
8. वही, पृ. 468
9. डॉ प्रसाद, दिनेश्वर, लोकसाहित्य और संस्कृति, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 211
10. सं. मजुमदार, प्रेमेन्द्र, लौकिक उद्यान प्रसंग लोकसंगीत, UBI Staff Welfare & Culture, कोलकाता, 1998, पृ. 600
11. सिंह, शांति, टूसू, लोकसाहित्य ओ आदिवासी संस्कृति केन्द्र, कोलकाता, 1405 बंगाब्द. पृ. 129
12. वही, पृ. 129

13. वही, पृ. 129
14. वही, पृ. 130
15. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 4
16. डॉ. प्रसाद, दिनेश्वर, लोकसाहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2007, पृ. 106-7
17. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 472
18. सिंह, शांति, टूसू, लोकसाहित्य ओ आदिवासी संस्कृति केन्द्र, कोलकाता, 1405 बंगाब्द. पृ. 157
19. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 472
20. घोषाल, छंदा, टूसू कथा, बंगीय साहित्य संसद, 1412 बंगाब्द, कोलकाता, पृ. 49
21. वही, पृ. 49
22. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ.
23. घोषाल, छंदा, टूसू कथा, बंगीय साहित्य संसद, 1412 बंगाब्द, कोलकाता, पृ. 45
24. वही, पृ. 45
25. डॉ. जैन, शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1999, पृ. 472
26. वही, पृ. 469
27. सं. मजुमदार, प्रेमेन्द्र, लौकिक उद्यान प्रसंग लोकसंगीत, UBI Staff Welfare & culture, कोलकाता, 1998, पृ. 601
28. चट्टोपाध्याय, भास्कर, गौड़ बंगेर इतिहास ओ संस्कृति, भाग-1, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कोलकाता, 2003, पृ. 52
29. सिंह, शांति, टूसू, लोकसाहित्य ओ आदिवासी संस्कृति केन्द्र, कोलकाता, 1405 बंगाब्द. पृ. 132
30. सं. मजुमदार, प्रेमेन्द्र, लौकिक उद्यान प्रसंग लोकसंगीत, UBI Staff Welfare & culture, कोलकाता, 1998, पृ. 602
31. सिंह, शांति, टूसू, लोकसाहित्य ओ आदिवासी संस्कृति केन्द्र, कोलकाता, 1405 बंगाब्द. पृ. 134
32. घोषाल, छंदा, टूसू कथा, बंगीय साहित्य संसद, 1412 बंगाब्द, कोलकाता, 3
33. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 56
34. डॉ. प्रसाद, दिनेश्वर, लोकसाहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2007, पृ. 192